ISSN - 2231-1130
वर्ष–षष्ठम् ; सितम्बर–2015

गुरू : अर्थ, अवधारणा एवं स्वरूप

धीरेन्द्र कुमार पाण्डेय*

भारत ही नहीं अपितु सम्पूर्ण संसार में चिन्तन एवं साधना के क्षेत्र में गुरू का स्थान अविवादग्रस्त एवं सर्वमान्य रहा है। मानव इतिहास की श्रेष्ठतम् विभूतियों ने 'गुरू' रूपी गौरवमयी पदवी को अपनाया है। तथा समस्त युगों के अनेक धार्मिक नेताओं और समाज सुधारकों ने इस गौरवमयी पर ''गुरू'' को अंगीकार करके, इसके गौरव में अभिवृद्धि की है, जैसे–कृष्ण, बुद्ध, गाँधी, सुकरात, मुहम्मद साहब, कनफ्यूशियस, चाणक्य, कबीर, तुलसी आदि सभी सच्चे अर्थों में मानव जाति के गुरू ही थे जिन्होंने समाज को एक नयी दिशा दर्शाते हए उनका उचित मार्गदर्शन किया।

'गुरू' आज से ही नहीं अपित अनादिकाल अर्थात् वैदिक काल से ही समाज में सम्मानित होता रहा है। धर्म और समाज की नियामिका शक्ति भी उन्हीं 'गुरू' के हाथ में रही है, यह केवल आध्यात्मिक, सामाजिक अथवा वैयक्तिक क्षेत्र में प्रभावकारी सिद्ध नहीं हुआ, वरन् उससे प्रेरणा प्राप्त करके उनके शिष्यों ने राजनैतिक क्रांतियां अर्थात् सत्ता परिवर्तन तक किया है।

ऐसे त्यागमयी, सम्मानीय, गौरवमयी, 'गुरू' पद के बारे में और अधिक कहने से पहले उसके अर्थ के बारे में जान लेना आवश्यक है, क्योंकि 'गुरू' शब्द कानों में पड़ते ही एक आदर्श, त्यागमयी, प्रतिमा उभर कर सामने आ जाती है। उस त्यागमगयी प्रतिमा अर्थात 'गुरू' के अर्थ को परिभाषित करते हुए विभिन्न विद्वानों ने अपने–अपने ग्रंथों में 'गुरू' के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किए हैं जिन्हें प्रसंगवश यहाँ पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

'गुरू' का अर्थ –

वाचस्पत्यम् में 'गुरू' शब्द की मीमांसा करते हुए तर्क वाचस्पति श्री तारानाथ भट्टाचार्य लिखते है। ''गिरत्यज्ञानं गृणात्युपदिशति धर्म्म'' अर्थात् शिष्य के अज्ञान का निराकरण करके धर्म का उपदेश देने वाले को 'गुरू'

* शोध छात्र (हिन्दी विभाग), लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ

कहते हैं।

अन्य कोशकार 'गुरू' का अर्थ इस प्रकार बताते हैं–

''गुकारस्तमसि प्रोक्तो रूकारस्तन्निवर्तकः।''

इसके अनुसार 'गु' का अर्थ है 'अन्धकार' और 'रू' का अर्थ है– 'हटाने वाला'। अर्थात 'गुरू' वह है जो अंधकार को हटा दे। एक सूक्ति भी है 'अंधकारं गिरति इति गुरूः।'

व्याकरण शास्त्र से गुरू को देखें – ''गुणातीति गुरूः''।

'गृ निगरणे' धातु से अर्थ लेते हैं–जो अंदर से कुछ निकाल कर दे, वह गुरू कहलाता है। निरूक्तकार श्री यास्काचार्य जी भी 'गुरू' का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि सहज भाव से आवांटित संस्कारों को खोद–खोद कर निकालने और उनकी जगह अमृत अर्थात् ज्ञान भर देने वाले को गुरू कहते हैं।

श्री विशाल मंगलवाड़ी जी ने अपने ग्रंथ (THE WORLD OF GURUS) में 'गुरू' का अर्थ बताते हुए लिखा है– 'गुरू' शब्द गुर (ऊ) से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ होता है, ऊपर उठाना, प्रहार करना, मार डालना, प्रयास करना, खा जाना आदि।

अतः गुरू वह है जो नानाविध साधनात्मक यंत्रणाएं देकर शिष्य के अज्ञान का हनन अथवा निगरण कर लेता है और उसके चरित्र को परिशुद्ध एवं समुन्नत बना कर उसे मुक्ति के मार्ग पर आरूढ़ कर देता है।

अतः 'गुरू' वह है जो दिव्य ज्ञान और शक्ति के कारण भारी हो, श्रेष्ठ हो, महान हो, माया के पाश में बँधा सामान्य मनुष्य लघु होता है, पराज्ञान–सम्पन्न विशिष्ट पुरूष गुरू हो उठता है। गुरू में लघु के मार्ग–दर्शन की क्षमता होती है।

उपर्युक्त विद्वानों के 'गुरू' विषयक विचारों एवं 'गुरू' शब्द के बताए गए अर्थों का अवलोकन करते हुए निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि

'गुरू' शब्द निम्नांकित अर्थों एवं व्यापारों का सूचक या द्योतक प्रतीत होता है–

1. शिष्य के अज्ञान का निगरण।
2. शिष्य के अवांछित संस्कारो का उन्मूलन।
3. बिना दुःख दिए–शिष्य कल्याण।
4. साधनात्मक यन्त्रणाओ के द्वारा शिष्य के अज्ञान का हनन तथा चरित्र का परिष्कार।
5. धर्मोपदेश का दान।
6. ज्ञान–विज्ञान का दान।
7. अंधकार का उन्मूलन कर प्रकाश का दान।
8. ईश्वरीय गुणों का स्थूल मानवीय स्वरूप।

'गुरू' की अवधारणा –

हमारे पौराणिक ग्रंथों ने सृष्टि का क्रम ब्रह्म, विष्णु, महेश आदि देवों से अंकित किया है तथा ब्रह्म अथवा शंकर को आदि गुरू तथा दर्शन से लेकर नृत्य तक सभी विद्याओ का आदि प्रवर्तक भी कहा है। वेद तो साक्षात् ब्रह्म के ही वाक्य हैं, और व्याकरण शास्त्र भगवान शंकर के डमरू निःसृत नाद से उद्भूत है, नृत्य एवं गायन भी नटराज भगवान शंकर से आरम्भ होकर अबाध गति से चला आ रहा है। इसी क्रम में जीवन के प्रत्येक कार्य के लिए 'गुरू' की आवश्यकता का अनुभव हुआ। यही कारण है कि जीवन में माता–पिता, गुरू, दीक्षा गुरू, शास्त्र गुरू, शस्त्र गुरू, सद्गुरू, जगतगुरू, सभी का अपना स्थान तथा अपनी मर्यादाएं है। सबके मूल में समाज में प्रचलित गुरू की भावना ही प्रमुख रखती है। किसी समय में तो गुरू के हाथ में समाज की नियामिका शक्ति होती थी।

'गुरू' की पहचान –

'गुरू' शब्द मस्तिष्क में आते ही अन्दर से एक प्रश्न उठता है, कि किस व्यक्ति, सन्त या आचार्य को 'गुरू' कहा जाए और किस तरह से पहचाना जाये, कि यह गुरू है या नहीं ? अर्थात् किन गुणों से युक्त व्यक्ति

को गुरू की संज्ञा से अभिहित किया जाए।

इसी सन्दर्भ मे पॉल ब्रंटन, के0जी0 शर्मा तथा अनय बहुतेरे अन्वेषियों ने ऐसे गुरू की दुर्लभता और साथ ही उनकी पहचान की कठिनाई का उल्लेख किया है। पर गुरू रूप में अपनी आत्मा का वरण क्या कम दुष्कर है? अहम् की झूठी–सच्ची प्रेरणाओ से अलग करके अपने आन्तरिक गुरू की सही आवाज को पहचान ले सकना क्या कम कठिन है? यह ठीक है, कि सिंहों के लहड़े नहीं होते, हंसों की पाँत नहीं होती, लालों की बोरियां नहीं मिलती और सच्चे साधु जमात बाँध कर नहीं चलते। हर कीमती चीज़ दुर्लभ होती है, पर दुर्लभ को सुलभ बना देना जिस सत्ता के हांथ में है, उसे इस बात की खबर है कि सच्ची लगन कहां और किसमें है। जहां आग जलती है, वहां ऑक्सीजन दौड़ पड़ती है। जहां सच्ची तड़प पैदा होती है, वहां सच्चे गुरू को आना पड़ता है।

विवेकानन्द का जन्म और रामकृष्ण का अवतरण एक घटना के दो आयाम है। नकली गुरूओं से असली गुरू को छांटकर अलग नहीं करना पड़ता है, वह खुद छंट कर अलग हो जाता है। सच्ची आवश्यकता की चुम्बकीय शक्ति काठ और पत्थर जैसे तथा कथित गुरूओं की भीड़ में से लोहे जैसे समर्थ गुरू को सहज भाव से अपने पास खींच लेती है।

यह जिज्ञासा उठना तो स्वाभाविक है, कि ऐसे शक्ति सम्पन्न 'गुरू' कैसे पहचाना जाये –

इस पर प्रकाश डालते हुए ब्रहम्लीन डॉ0 श्री चतुर्भुज सहाय जी लिखते हैं– 'जब तुम साधु या संत व महात्मा के उसकी जांच करने की नीयत से पहुंचों तो पहले उसको प्रणाम करो। फिर चुपचाप अदब से एक ओर जा बैठो। बातें भी अधिक न करो। यदि वह तुम से कुछ पूछे तो उसका उत्तर नम्रता से दो और चुप रहो। उस समय तुम अपने नियम का कर्म भी न करो, जैसे जाप, प्राणायाम या ध्यान इत्यादि। तात्पर्य यह है कि उस वक्त थोड़ी देर के लिए तुम शारीरिक और मानसिक कर्मों से बिल्कुल शून्य हो जाओ। फिर

अपने मन की ओर देखो कि इस समय यह क्या कर रहा है। यदि उस समय मन शान्त और आनन्दमय हो, घरबार और काम धन्धे की फिक्र से उस समय मन को वैराग्य हो गया हो तो समझ लो कि यह सत्य पुरूष द्वन्द्व के पार पहुंच चुका है, गुरू बनाने के लायक है और यदि ऐसा न हो, हम जैसे के तैसे ही रहें तो उसका त्यागना ही उचित हैं, वह अभी अपूर्ण है और न गुरू कहलाने का हकदार है।

नरेन्द्र कोहली जी ने अपनी रामकथा 'अभ्यूदय–1' में एक स्थान पर गुरू विश्वामित्र जी से अपने शिष्य राम लक्ष्मण के सम्मुख जो कहलवाया है वह प्रसंगवश यहां उल्लेखनीय है–

'ऋषि का चोला ओढ़कर ही कोई ऋषि नहीं हो जाता, जैसे केवल लेखनी चलाकर कोई कवि नहीं हो जाता या शिष्यों को लिखा पढ़ा कर कोई गुरू नहीं हो जाता। केवल वाहयाचार ब्रम्हचार ही पर्याप्त नहीं। कर्म, दायित्व, सत्य निष्ठा और दृढ़ चरित्र की भी आवश्यकता होती है।'

अर्थात् गुरू वही है जो कर्म दायित्व, सत्य निष्ठ और दृढ़ चरित्र से युक्त हो, आदर्श गुरू भी वही हो सकता है।

सन्दर्भ –

1. कल्याण के उपासना अंक में प्रकाशित श्री प्रभुदत्त शास्त्री 'गुरूपासना' शीर्षक निबन्ध पृष्ठ 628
2. Guru Purnima Special Issue of Yoga – July 1977, Page No. 9
3. Shri Vishal Mangalwadi: The World of Guru, Page No. 8.
4. आचार्य शिवचन्द्र प्रताप, 'भारतीय चिन्तन में गुरू–धारणा और भक्ति काव्य' पृष्ठ 19।
5. नरेन्द्र कोहली–अभ्युदय भाग–1, पृष्ठ–156